CHHADHALA PRESENTATION
PREPARED BY SAURABH
&GAURAV JAIN INDORE (INDIA)

छठवीं ढाल

मुक्तिमार्ग का तीसरा चरण

सम्यक्चारित्र और उसका फल

छन्द – १

कविवर पण्डित दौलतरामजी ने इस अन्तिम ढाल में दिगम्बर मुनिराजों के स्वरूप को दर्शाया है। यहाँ इस छठवीं ढाल के प्रारम्भ में वे मुनिराजों के पञ्च महाव्रतों का स्वरूप बताते हैं –

षट् काय जीव न हनन तें, सब विधि दरब हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तें, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनकें न लेश मृषा न जल, त्रण हू बिना दीयौ ग्रहै।
अठदश सहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहै॥

भावार्थ - निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वस्वरूप में निरन्तर एकाग्रतारूप रमण करना ही मुनिपना है। उस भूमिका में बारम्बार निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवाँ गुणस्थान आता ही है। छठवें गुणस्थान के समय उन्हें पञ्च महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक एवं नग्नता आदि अट्ठाईस मूलगुणों के शुभभाव होते हैं किन्तु वे उसे धर्म नहीं मानते तथा उस काल में भी उन्हें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति तो निरन्तर वर्तती ही है।

उनकी भूमिका में पाये जानेवाले अहिंसादि महाव्रतों का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए —

पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरकाय तथा एक त्रसकाय, इन छह काय के जीवों का घात करना, द्रव्यहिंसा है और राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान इत्यादि भावों की उत्पत्ति होना, भावहिंसा है। वीतरागी मुनिराज को दोनों प्रकार की हिंसा नहीं होती; इसलिए उनको **अहिंसा महाव्रत** होता है।

वे स्थूल अथवा सूक्ष्म – दोनों प्रकार का झूठ नहीं बोलते; इसलिए उनको **सत्य महाव्रत** होता है।

अन्य किसी वस्तु की तो बात ही क्या, किन्तु तिनका और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते; इसलिए उनको **अचौर्य महाव्रत** होता है।

वे शील के अठारह हजार भेदों का सदा पालन करते हैं और चैतन्यरूप आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं; इसलिए उनको आत्म-स्थिरतारूप **ब्रह्मचर्य महाव्रत** होता है....।

छन्द - २

अपरिग्रह महाव्रत और ईर्या व भाषासमिति का स्वरूप

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दसधा तें टलै।
परमाद तजि चउकर मही लखि, समिति ईर्या तें चलै।
जग-सुहितकर सब अहितहरि, श्रुत सुखद सब संसै हरै।
भ्रम रोगहर जिनकौ वचन, मुखचन्द्र तें अमृत झरैं॥

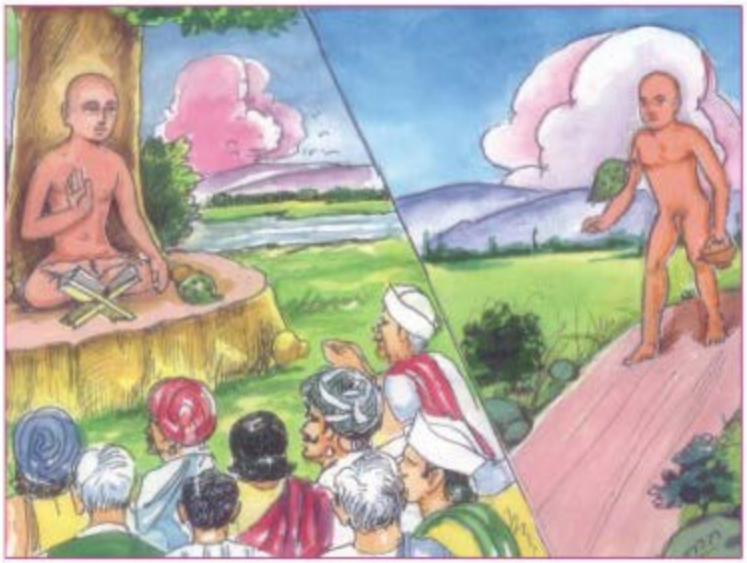

भावार्थ – वीतरागी मुनि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और दश प्रकार के बहिरङ्ग परिग्रहों से रहित होते हैं; इसलिए उनको **परिग्रहत्याग महाव्रत** होता है।

दिन में सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प, **ईर्यासमिति** है।

जिस प्रकार चन्द्रमा से अमृत झरता है; उसी प्रकार मुनि के मुखचन्द्र से जगत का हित करनेवाले, सर्व अहित का नाश करनेवाले, सुनने में सुखकर, सर्व प्रकार की शङ्काओं को दूर करनेवाले और मिथ्यात्व अर्थात् विपरीतता या सन्देहरूपी रोग का नाश करनेवाले अमृत वचन निकलते हैं; इस प्रकार मुनिराज का समितिरूप बोलने का विकल्प, **भाषासमिति** है.... ।

छन्द - ३

प्रस्तुत छन्द में कविवर ने शेष तीनों समितियों का वर्णन किया है –

छयालीस दोष बिना सकुल, श्रावक तनें घर अशन कौं।
लै तप बढ़ावन हेत, नहिं तन पोषते तजि रसन कौं॥
सुच ज्ञान संजम उपकरण, लखि कैं ग्रहैं लखि कैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोकि तन, मल-मूत्र श्लेषम परिहरैं॥

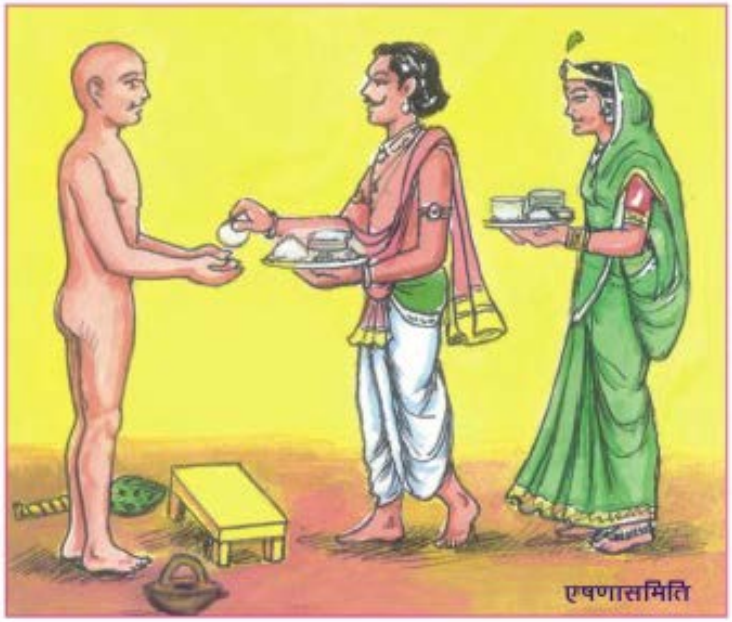

भावार्थ – वीतरागी जैन मुनि-साधु उत्तम कुलवाले श्रावक के घर, आहार के छियालीस दोषों को टालकर तथा अमुक रसों का त्याग करके अथवा स्वाद का राग न करके, शरीर को पुष्ट करने का अभिप्राय न रखकर, मात्र तप की वृद्धि करने के लिए आहार ग्रहण करते हैं; इसलिए उनको **एषणासमिति** होती है।

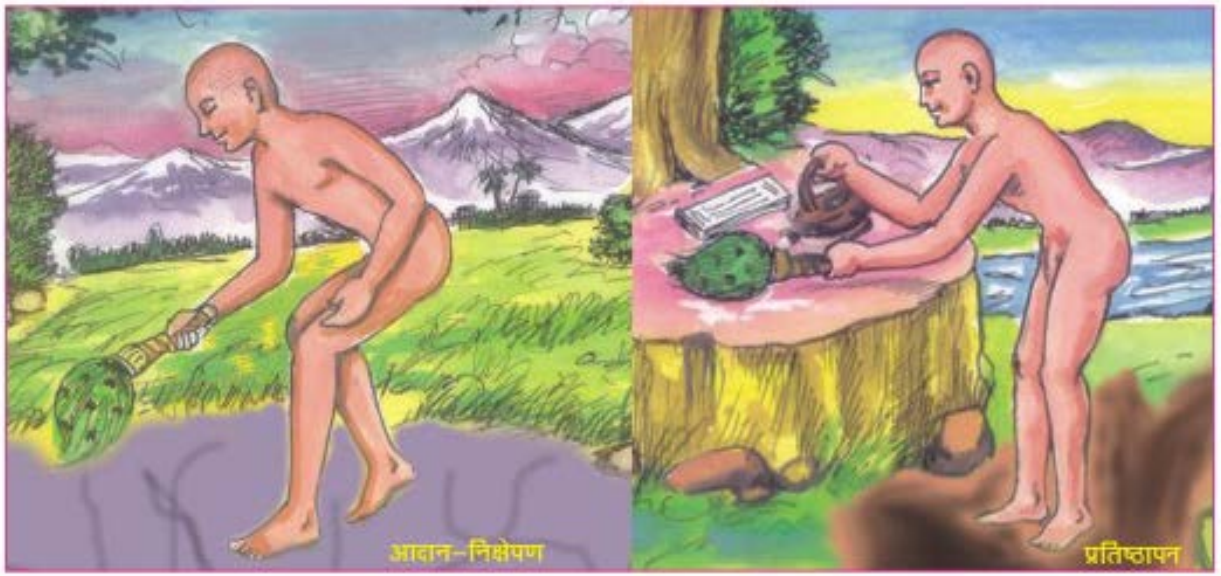

पवित्रता के साधन कमण्डल को, ज्ञान के साधन शास्त्र को और संयम के साधन पींछी को, जीवों की विराधना बचाने के हेतु, देखभाल कर रखते-उठाते हैं; इसलिए उनको **आदान-निक्षेपणसमिति** होती है।

मल, मूत्र, कफ आदि शरीर के मैल को जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं; इसलिए उनको व्युत्सर्ग अर्थात् **प्रतिष्ठापनसमिति** होती है।

छन्द - ४

तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियजय का स्वरूप दर्शाते हैं –

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय, आतम ध्यावते।
तन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते॥
रस-रूप-गंध तथा फरस, अर शब्द सुभ असुहावनें।
तिनमें न राग विरोध, पंचेन्द्री-जयन पद पावने॥

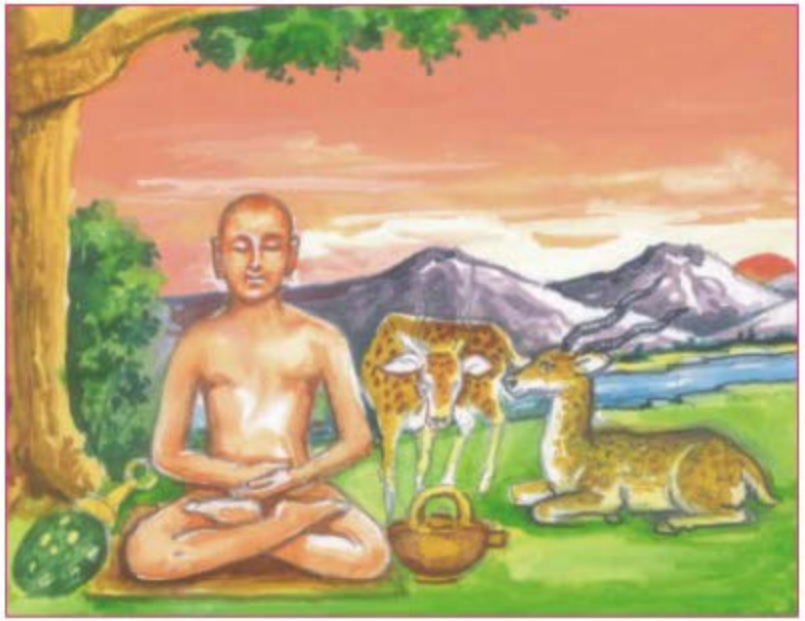

भावार्थ – इस काव्य में निश्चयगुप्ति के स्वरूप का और भावलिङ्गी मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुणों में से पाँच इन्द्रिय विजय का वर्णन किया गया है।

भावलिङ्गी मुनिराज उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर निर्विकल्परूप से निज स्वरूप में गुप्त होते हैं, यह निश्चयगुप्ति है। उस समय मन -वचन-काय की क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शान्त और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीर को पत्थर समझकर, मृगों के झुण्ड अपनी खाज (खुजली) खुजाते हैं, तथापि वे मुनि अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं, ऐसे भावलिङ्गी मुनिराजों के तीन गुप्तियाँ स्वयमेव होती हैं।

छन्द - ५

मुनिराज के छह आवश्यक और नग्नत्व आदि सात गुण ये हैं –

समता सम्हारें, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेव कौ।
नित करैं श्रुत-रति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव कौ॥
जिनके न न्होंन, न दन्त धोवन, लेश अम्बर आवरण।
भूमाहि पछिली रैनि में, कछु सयन एकासन करन॥

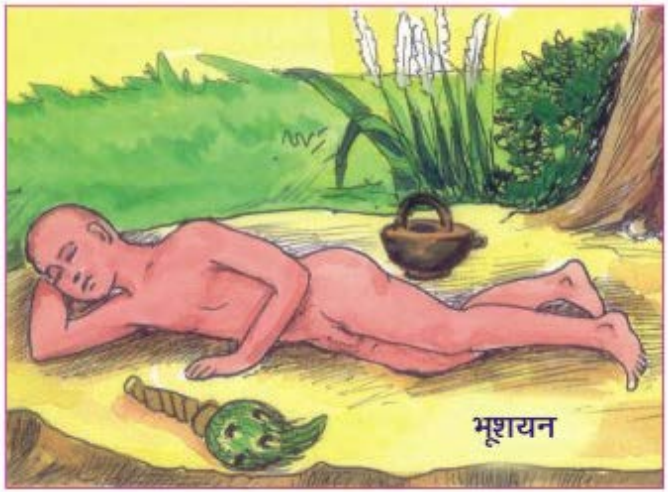

भावार्थ - मुनिराज के छह आवश्यक गुण ये होते हैं — वीतरागी मुनि सदा (१) सामायिक, (२) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की स्तुति, (३) जिनेन्द्र भगवान की वन्दना, (४) स्वाध्याय में प्रेम, (५) प्रतिक्रमण, और (६) कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर के प्रति ममता का त्याग करते हैं; इसलिए उनको छह आवश्यक होते हैं।

मुनिराज के नग्नत्व आदि सात गुण निम्न हैं —

मुनिराज कभी भी (१) स्नान नहीं करते, (२) दाँतों की सफाई नहीं करते, (३) शरीर को ढँकने के लिए थोड़ा-सा भी वस्त्र नहीं रखते, (४) रात्रि के पिछले भाग में एक करवट से भूमि पर कुछ समय शयन करते हैं....।

छन्द - ६

साम्यभावी दिगम्बर मुनिराजों का अवशेष स्वरूप इस प्रकार है –

इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलौंच करत न डरत परीसह, सौ लगे निज ध्यान में॥
अरि-मित्र महल-मसान कञ्चन, काँच निन्दन-थुति करन।
अर्घाउतारण असि प्रहारण, में सदा समता धरन॥

छन्द - ६

साम्यभावी दिगम्बर मुनिराजों का अवशेष स्वरूप इस प्रकार है –

इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलौंच करत न डरत परीसह, सौ लगे निज ध्यान में॥
अरि-मित्र महल-मसान कञ्चन, काँच निन्दन-थुति करन।
अर्घाउतारण असि प्रहारण, में सदा समता धरन॥

भावार्थ - ..... (५) दिन में एक बार आहार लेते हैं, (६) खड़े-खड़े अपने हाथ में रखकर थोड़ा लेते हैं, और (७) केशलोंच करते हैं। — इस प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रिय विजय एवं नग्नता आदि सात गुण — ये मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं।

मुनिराज, आत्मध्यान में मग्न रहकर परीषहों से नहीं डरते अर्थात् बाईस प्रकार के परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं।

छन्द - ७

मुनिराज के तप, विहारादि का वर्णन करके, उनकी आन्तरिक पवित्रता का वर्णन इस छन्द से प्रस्तुत किया जा रहा है –

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रत्नत्रय सेवें सदां।
मुनि साथ में वा एक विचरें, चहैं नहि भव सुख कदां॥
जो है सकल संजम चरित, सुनियै स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रघटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब॥

भावार्थ - प्रस्तुत छन्द में मुनिराज के बारह तप, दश धर्म और उनकी विहारचर्या का वर्णन करते हुए सकल संयम के कथन का उपसंहार किया गया है।

भावलिङ्गी मुनिराज का शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना, निश्चयतप है और हठरहित बारह प्रकार के तप का शुभविकल्प, व्यवहारतप है। वीतरागभावरूप उत्तमक्षमादि परिणाम, उत्तम क्षमाादि दश धर्म हैं। भावलिङ्गी मुनिराज को उपर्युक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है। वे मुनियों के संघ में अथवा अकेले विहार करते हैं; किसी भी समय सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करते।

छन्द - ८

मुनिराज की स्वरूप स्थिरता का भाववाही वर्णन

जिन परम पैनी सुबुधि छेंनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अर रागादि तें, निज भाव कौं न्यारा किया॥
निजमाहि निज के हेत निजकरि, आपकौं आपौ ग्रह्यौ।
गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय मँझार, कछु भेद न रह्यौ॥

भावार्थ – जिस प्रकार कोई पुरुष तीक्ष्ण छैनी द्वारा पत्थर आदि के दो भाग पृथक्-पृथक् कर देता है; उसी प्रकार स्वरूपाचरणचारित्र में स्थित वीतरागी मुनि, अपने अन्तरङ्ग में भेदविज्ञानरूपी छैनी द्वारा अपने आत्मा के स्वरूप को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म से, शरीरादिक नोकर्म से और राग-द्वेषादि भावकर्मों से भिन्न करके अपने आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा को स्वयं जानते हैं। उनके स्वानुभव में गुण, गुणी, अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छैनी लोहे को काटकर दो टुकड़े कर देती है; उसी प्रकार शुद्धोपयोग कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है।

छन्द - ९

ध्यान-ध्याता-ध्येय के भेदरहित, आत्मानुभूति का रोमाञ्चकारी वर्णन

जिहि ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प, वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना क्रिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ऐे, तीनिधा एकै लसा॥

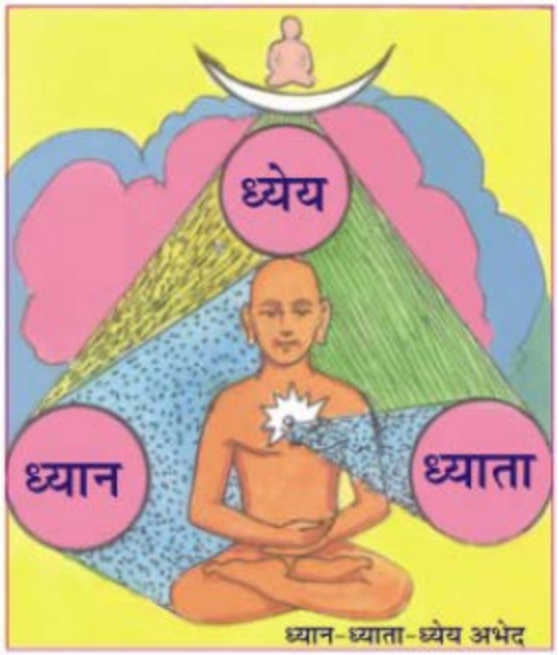

ध्यान-ध्याता-ध्येय अभेद

भावार्थ – वीतरागी मुनिराज, स्वरूपाचरण के समय आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। उस दशा में ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेद नहीं रहता; वचन का विकल्प नहीं होता। उस आत्मध्यान में तो आत्मा ही कर्म, आत्मा ही कर्ता और आत्मा का भाव ही क्रिया होती है अर्थात् कर्ता-कर्म और क्रिया — ये तीनों एकदम अखण्ड, अभिन्न हो जाते हैं। उस समय शुद्धोपयोग की ऐसी अचलदशा प्रगट होती है, जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एकसाथ-एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं।

कर्ता अर्थात् स्वतन्त्ररूप से करे सो कर्ता; कर्म अर्थात् कर्ता द्वारा हुआ कार्य; क्रिया अर्थात् कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।

छन्द - १०

आत्मानुभव में क्या दिखता है और क्या नहीं? – इस छन्द में कविवर ने स्पष्टरूप से दर्शाया है –

परमान नय निक्षेप को न, उद्योत अनुभौ में दिसै।
दृग-ज्ञान-बल सुख में सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै॥
मैं साध्य-साधक, मैं अबाधक, कर्म अर कर्म फल तें।
चिद् पिंड चंड अखंड सुगुण करंड, च्युत पुन्य फल तें॥

भावार्थ - इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के आत्मानुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का विकल्प तो नहीं उठता किन्तु गुण-गुणी का भेद भी नहीं होता। उन्हें ऐसा ध्यान होता है कि मैं अनन्त दर्शन-अनन्त ज्ञान-अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप हूँ; मुझमें कोई रागादिकभाव नहीं हैं। मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और कर्म तथा कर्मफल से पृथक् हूँ। मैं ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप, निर्मल, ऐश्वर्यवान तथा अखण्ड, सहज शुद्धगुणों का भण्डार और पुण्य-फल से रहित हूँ।

तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के रागादि और भेद के विकल्पों से रहित निर्विकल्प आत्मस्थिरता को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।

छन्द - ११

प्रचण्ड आत्मध्यान के फल से प्राप्त केवलज्ञानदशा का आह्लादकारी वर्णन आत्मअनुभूति की भावना पैदा करता है –

यौं चिन्त निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमेन्द्र कौं नाहीं कह्यो॥
तब ही सुकल ध्यानाग्नि करि, चौघाति विधि कानन दह्यौ।
सब लखौ केवलज्ञानकरि, भवि लोक कौ सिवमग कह्यौ॥

भावार्थ - स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनिराज उपर्युक्तानुसार चिन्तवन -विचार करके आत्मा में लीन हो जाते हैं, तब उन्हें जो आनन्द होता है, वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्ती और अहमिन्द्र को भी नहीं होता।

स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात्, स्वद्रव्य में उग्र एकाग्रता से अर्थात् शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होता है और अरहन्तदशा तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसमें तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और वे अरहन्त परमात्मा भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

घातिकर्म दो प्रकार के हैं — द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्धदशा प्रगट होने पर भावघातिकर्मरूप अशुद्धपर्यायें उत्पन्न नहीं होतीं, वह भावघातिकर्म का नाश है तथा उस समय द्रव्यघातिकर्मों का स्वयं अभाव होता है, वह द्रव्यघातिकर्म का नाश है।

छन्द - १२

सिद्धदशा का महिमाशाली वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं –

पुण घात शेष अघात विधि, छिनमाहि अष्टम भू वसे।
वसु कर्म विनसे सुगुण वसु, सम्यक्त आदिक सब लसे॥
संसार खार अपार, पारावार तरि तीरें गये।
अविकार अकल अरूप सुध, चिद्रूप अविनासी भये॥

भावार्थ – अरहन्तदशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जिन गुणों की पर्यायों में अशुद्धता होती है, उस अशुद्धता का क्रमशः अभाव होकर वह जीव पूर्ण शुद्धदशा को प्रगट करता है। उस समय असिद्धत्त्व नामक अपने उदयभाव का नाश होता है तथा चार अघातिकर्मों का भी स्वयं सर्वथा अभाव हो जाता है। सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ गुणों की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं। मुख्य आठ गुण व्यवहार से कहे हैं; निश्चय से तो अनन्त गुण–सर्व गुणों की पर्यायें शुद्ध होती हैं और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के कारण एक समयमात्र में लोकाग्र में पहुँचकर वहाँ स्थिर रह जाते हैं।

वे सिद्ध जीव, संसाररूपी दुःखदायी तथा अगाध समुद्र से पार हो गये हैं और निर्विकारी, अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं।

छन्द - १३

समस्त विश्व में कौन जीव धन्य है? – प्रस्तुत छन्द में कविवर दौलतरामजी इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं –

जिनमाहि लोक-अलोक गुण, पर्याय प्रतिबिम्बित भये।
रहिहै अनन्तानन्त काल, जथा तथा शिव परणये॥
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज कीया।
तिनही अनादी भ्रमन पंच प्रकार, तजि वर सुख लीया॥

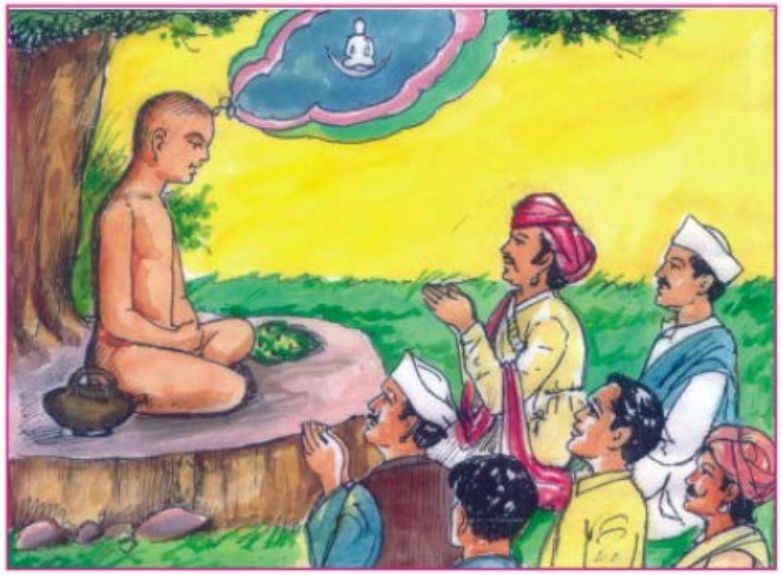

भावार्थ - सिद्ध भगवान केवलज्ञान के द्वारा लोक और अलोक अर्थात् समस्त पदार्थों को अपने-अपने गुण और उनकी तीनों काल की पर्यायों को एक साथ, स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्तरूप से-सर्व प्रकार से स्पष्ट जानते हैं किन्तु उनके ज्ञान में दर्पण की भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती। वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं तथा वह दशा वहाँ विद्यमान अन्य सिद्ध-मुक्त जीवों की भाँति अनन्तानन्त काल तक रहेगी अर्थात् अपरिमित काल व्यतीत हो जाने पर भी उनकी अखण्ड ज्ञायकता-शान्ति आदि में किञ्चित् बाधा नहीं आयेगी।

जिस प्रकार यदि बीज को जला दिया जाए तो वह उगता नहीं है; उसी प्रकार जिन्होंने संसार के कारणों का सर्वथा नाश कर दिया, वे पुनः अवतार-जन्म धारण नहीं करते। अथवा जिस प्रकार मक्खन से घी अलग हो जाने के पश्चात् पुनः मक्खन नहीं बनता; उसी प्रकार आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा [परमात्मपद] प्रगट करने के पश्चात् उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती अर्थात् संसार में पुनः आगमन नहीं होता।

जिन जीवों ने मनुष्यपर्याय प्राप्त करके, शुद्ध चैतन्य की प्राप्तिरूप कार्य किया है, वे जीव धन्य हैं — प्रशंसा के पात्र हैं, क्योंकि उन्होंने अनादिकाल से चले आ रहे पञ्च परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण का त्याग करके, उत्तम सुख-मोक्षसुख प्राप्त किया है।

छन्द - १४

प्रस्तुत छन्द में ग्रन्थकार ने आत्महितकारी पावन प्रेरणा देकर हमें शीघ्र निजहित करने के लिये प्रेरित किया है –

मुख्यौपचार दुभेद यौं, बडभाग रत्नत्रय धरै।
अरु धरैंगे ते शिव लहै, तिन सुजस-जल जग-मल हरै॥
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ।
जबलों न रोग जरा ग्रहै, तबलौ झटित निज हित करौ॥

भावार्थ - जो सत्पुरुषार्थी जीव, सर्वज्ञ-वीतरागी द्वारा कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानकर, उपादेय और हेय तत्त्वों का स्वरूप समझकर, अपने शुद्ध उपादान-आश्रित निश्चयरत्नत्रय को अर्थात् शुद्धात्माश्रित वीतरागभावस्वरूप मोक्षमार्ग को धारण करते हैं और करेंगे, वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं और होंगे।

निश्चयरत्नत्रय के साथ भूमिकानुसार शुभराग आता है, वह व्यवहाररत्नत्रय है। उसे निश्चय से उपादेय न मानना ही व्यवहाररत्नत्रय का धारण करना है। जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे, उनका सुकीर्तिरूपी जल कैसा है ? — कि जो सिद्ध परमात्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर, स्वोन्मुख होनेवाले भव्य जीव हैं, उनके संसार अर्थात् मलिनभावरूपी मल को हरने का निमित्त है — ऐसा जानकर, प्रमाद को छोड़कर, साहस अर्थात् सच्चा पुरुषार्थ करके यह उपदेश अङ्गीकार करो। जब तक रोग या वृद्धावस्था ने शरीर को नहीं घेरा है, तब तक शीघ्र / वर्तमान में ही आत्मा का हित कर लो।

छन्द - १५

कविवर पण्डितप्रवर दौलतरामजी भव्यजीवों को अति करुणापूर्वक रागरूपी अङ्गारों से बचकर, निजपद में जमने की अन्तिम सीख देते हैं –

इह राग-आग दहै सदा, तातें समामृत सेईयै।
चिर भजे विषय-कषाय अब तौ, त्यागि निजपद बेईयै॥
कह रचौ पर पद में, न तेरौ पद यहै, क्यौं दुःख सहै।
अब 'दौल'! होउ सुखी सुपद-रचि, दाव मति चूकै यहै॥

भावार्थ – यह राग अर्थात् मोह, अज्ञानरूपी अग्नि, अनादिकाल से निरन्तर संसारी जीवों को जला रही है — दु:खी कर रही है; इसलिए जीवों को निश्चयरत्नत्रयमय समतारूपी अमृत का पान करना चाहिए, जिससे राग-द्वेष-मोह और अज्ञान का नाश हो। जीव अनादिकाल से विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विषय-कषायों का सेवन कर रहा है, अब उसका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। हे भाई! तू दु:ख किसलिए सहन करता है? तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्त वीर्य है, तुझे उसमें लीन होना चाहिए। ऐसा करने से ही सच्चा-सुख / मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिए हे दौलतराम! अर्थात् हे जीव! अब आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर! आत्मस्वरूप को पहिचान! यह उत्तम अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता; इसलिए इसे मत गँवा। सांसारिक मोह का त्याग करके, मोक्ष प्राप्ति का उपाय कर!

यहाँ विशेष यह समझना कि जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी अग्नि तथा राग-द्वेषरूप अपने अपराध से ही दु:खी हो रहा है; इसलिए अपने यथार्थ पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है। ऐसा नियम होने से जड़कर्म के उदय से या किसी पर के कारण दु:खी हो रहा है अथवा पर के द्वारा जीव को लाभ-हानि होते हैं — ऐसा मानना उचित नहीं है।

प्रशस्ति छन्द

कविवर पण्डित दौलतरामजी, इस ग्रन्थ रचना का काल एवं इसके प्रेरणा स्रोत का उल्लेख कर, अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थ पूर्ण करते हैं –

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज सुकल वैसाख।
कह्यो तत्त्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख॥
लघुधी तथा प्रमाद तें, शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधारि पढ़ौ सदां, जौं पावो भव कूल॥

भावार्थ – पण्डित बुधजनकृत छहढाला के कथन का आधार लेकर मैंने (दौलतराम ने) विक्रम सम्वत् १८९१ वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया) के दिन इस छहढाला ग्रन्थ की रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्द की या अर्थ की भूल रह गयी हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़ें, ताकि जीव संसार-समुद्र को पार करने में शक्तिमान हो।

END OF THE SIXTH DHAAL

CONTACT DETAIL

jainsaurabhjain15@gmail.com
dparihantsaurabh@yahoo.co.in

U.S. CONTACT

rajanigosalia@hotmail.com